

## सम्पादकीय

### नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

#### नियमसार गाथा १६०

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को देखते-जानते हैं और व्यवहारनय से लोकालोक को देखते-जानते हैं और अब इस गाथा में सोदाहरण यह बताते हैं कि केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जुगवं वट्टु णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।

दिणयरपयासतावं जह वट्टु तह मुणेयव्वं॥१६०॥

( हरिगीत )

ज्यो ताप और प्रकाश रवि में एकसाथ रहें सदा।

त्यो केवली के ज्ञान-दर्शन एकसाथ रहें सदा॥१६०॥

जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश और ताप एक साथ वर्तते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तते हैं - ऐसा जानना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ वस्तुतः केवलज्ञान और केवलदर्शन के एक साथ होने को दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। दृष्टान्त पक्ष में जब बादलों की बाधा न हो, तब आकाश में स्थित सूर्य में जिसप्रकार प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं; उसीप्रकार तीर्थाधिनाथ परमेश्वर भगवान को तीन लोकवर्ती और तीन कालवर्ती स्थावर-जंगम द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक ज्ञेयों में पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन एक साथ वर्तते हैं।

दूसरी बात यह है कि संसारी जीवों के ज्ञान, दर्शन पूर्वक ही होता है। पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है।”

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“ ‘किसी समय’ कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार बादलों के होने पर

ताप और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं दिखते; उसीप्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान में दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। तथा जिसप्रकार बादल न रहने पर वे दोनों एक साथ होते हैं, उनके होने में अन्तर नहीं होता; उसीप्रकार जब आत्मा में क्षायिक ज्ञान-दर्शन होते हैं, तब ज्ञान-दर्शन - दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।<sup>१</sup>

जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश और ताप एक समय में एक साथ होते हैं; उसीप्रकार भगवान के ज्ञान-दर्शन का उपयोग एक समय में एक साथ होता है।

केवली के दर्शनोपयोग के समय ज्ञानोपयोग नहीं होता और ज्ञानोपयोग के समय दर्शनोपयोग नहीं होता - यदि ऐसा माना जाय तो केवली में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की सत्ता सिद्ध होती है; परन्तु केवली में वे कर्म नहीं हैं।<sup>२</sup>

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि क्षायिकज्ञानवालों के दर्शन और ज्ञान स्व-पर पदार्थों को एक साथ देखते-जानते हैं; पर क्षायोपशमिकज्ञानवाले जीव जब किसी पदार्थ को देखते-जानते हैं तो देखना (दर्शन) पहले होता है, उसके बाद जानना (ज्ञान) होता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिकज्ञानवालों के देखना-जानना क्रमशः होता है और क्षायिकज्ञानवालों में देखना-जानना एक साथ होता है।<sup>३</sup>

इसके बाद 'तथा चोक्तं प्रवचनसारे - तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' - ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है -

गाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।  
णट्टमणिट्टं सव्वं इट्टं पुण जं तु तं लद्धं ॥७५॥<sup>३</sup>  
( हरिगीत )

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।

हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं ॥७५॥

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं, वे सब प्राप्त हो गये हैं; इसकारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।

इस गाथा में यह कहा गया है कि केवली भगवान के सर्व अनिष्ट नष्ट हो गये हैं और लोकालोक को एक साथ जानने-देखने की सामर्थ्य प्रगट हो गई है; इसकारण वे पूर्ण सुखी हैं, अनन्त सुखी हैं ॥७५॥

इसके बाद 'अन्यच्च - अन्य भी देखिये' - ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३५६

२. वही, पृष्ठ १३५८

३. प्रवचनसार, गाथा ६१

करते हैं, जो इसप्रकार है -

दंसणपुव्वं गाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओग्गा ।

जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥७६॥<sup>१</sup>

( हरिगीत )

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।

पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये ॥७६॥

छद्मस्थों (क्षायोपशमिकज्ञानवालों) के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; क्योंकि उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन - दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि क्षायोपशमिकज्ञान वालों के ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और क्षायिकज्ञानवाले केवली भगवान को दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं ॥७६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथाहि' लिखकर चार छन्द स्वयं लिखते हैं; उनमें से प्रथम छन्द इसप्रकार है -

( स्रग्धरा )

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे

सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।

एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्

तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ॥२७३॥

( हरिगीत )

अज्ञानतम को सूर्यसम सम्पूर्ण जग के अधिपति।

हे शान्तिसागर वीतरागी अनुपम सर्वज्ञ जिन ॥

संताप और प्रकाश युगपत् सूर्य में हों जिसतरह।

केवली के ज्ञान-दर्शन साथ हों बस उसतरह ॥२७३॥

सम्पूर्ण जगत के एक नाथ, धर्मतीर्थ के नायक, अनुपम सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन चारों ओर से निरंतर एक साथ वर्तते हैं। अन्धकार समूह के नाशक, तेज की राशिरूप सूर्य में जिसप्रकार उष्णता और प्रकाश एक साथ वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् जगत जीव प्रकाश हो जाने से देखने लगते हैं; उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के

१. बृहद्ब्रह्मसंग्रह, गाथा ४४

निमित्त से जगत के जीव भी वस्तुस्वरूप देखने-जानने लगते हैं।

यहाँ एक साथ देखने-जानने के स्वभाव के उल्लेखपूर्वक सर्वज्ञ भगवान की महिमा के गीत गाये गये हैं। उन्हें तीन लोक के नाथ, धर्मतीर्थ के नेता और अज्ञानान्धकार के नाशक बताया गया है ॥२७३॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

( वसंततिलका )

सद्बोधपोतमधिरुह भवाम्बुराशि-  
मुल्लंग्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।  
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं  
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ॥२७४॥

( हरिगीत )

सद्बोधरूपी नाव से ज्यों भवोदधि को पारकर ।  
शीघ्रता से शिवपुरी में आप पहुँचे नाथवर ॥  
मैं आ रहा हूँ उसी पथ से मुक्त होने के लिए ।  
अन्य कोई शरण जग में दिखाई देता नहीं ॥२७४॥

हे जिननाथ सम्यग्ज्ञानरूपी नाव में सवार होकर आप भवसमुद्र को पारकर शीघ्रता से मुक्तिपुरी में पहुँच गये हैं। अब मैं भी आपके इसी मार्ग से उक्त मुक्तिपुरी में आता हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों को उक्त मार्ग के अतिरिक्त और कौन शरण है ?

तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस छंद का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ मुनिराज कहते हैं कि हे नाथ! तुम तो मोक्ष चले गये और हमें अभी भी विकल्प वर्तता है।”

हे जिननाथ! अभी मैं उस मार्ग पर हूँ, जिसमार्ग से आप शाश्वतपुरी गये हो। मैं इसलिये इस मार्ग पर हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तमपुरुषों के लिये इस मार्ग के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है। वे आगे कहते हैं कि मैं संसार में नहीं रहूँगा तथा मोक्ष के लिये अन्य से पूछने की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि नित्य ध्रुवपदार्थ के अवलम्बन से प्रगट होनेवाले शुद्धदशारूपमार्ग से ही भगवान शाश्वतपुरी को प्राप्त हुये हैं तथा मैं वहाँ जा रहा हूँ। मैं एक-दो भव बाद ही मुक्ति को प्राप्त करूँगा - इसमें कोई संदेह नहीं है अर्थात् मार्ग प्रगट हो जाने पर पूर्णता प्रगट हुये बिना नहीं रहती।

आत्मा को सर्वज्ञकथित मार्ग के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा

परिपूर्ण प्रभु है, उसके अवलम्बन से पूर्णदशा एवं स्वभाव की एकता होने के बाद समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसे समझे बिना अनेक प्रकार की क्रिया करने से धर्म नहीं होता है।”

इस छन्द में जिननाथ की स्तुति करते हुए कहा गया है कि जिस मार्ग पर चलकर आपने शाश्वत शिवपुरी प्राप्त की है; अब मैं भी उसी मार्ग से शिवपुरी में आ रहा हूँ; क्योंकि इसके अलावा कोई मार्ग ही नहीं है। उक्त छन्द में लेखक का आत्मविश्वास झलकता है। उन्हें पक्का भरोसा है कि जिनेन्द्र भगवान जिस मार्ग पर चलकर मुक्त हुए हैं; वे भी दृढ़तापूर्वक उसी मार्ग पर चल रहे हैं ॥२७४॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

( मंदाक्रांता )

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः  
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित् ।  
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानंगसौख्यप्रदायाः  
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

( हरिगीत )

आप केवलभानु जिन इस जगत में जयवंत हैं।  
समरसमयी निर्देह सुखदा शिवप्रिया के कंत हैं ॥  
रे शिवप्रिया के मुखकमल पर कांति फैलाते सदा।  
सुख नहीं दे निजप्रिया को है कौन ऐसा जगत में ॥२७५॥

केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। वे जिनदेव समरसमय अशरीरी सुख देनेवाली मुक्तिरूपी प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कान्ति फैलाते हैं; जगत में स्नेहमयी अपनी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण कौन नहीं होता ?

जिसप्रकार जगत के मोही जीव स्वयं की प्रिय प्रिया को प्रसन्न रखते हैं; उसीप्रकार हे प्रभो ! आप भी समतारसमय अशरीरी सुख देनेवाली अपनी मुक्ति प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कांति फैलाते हैं, उसे सब प्रकार अनुकूलता प्रदान करते हैं।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो पूर्णपर्याय प्रगट हुई है, उसमें मुनिराज स्त्री का उपचार करते हैं। केवली भगवान अपनी पर्याय की शोभा फैला रहे हैं। रागीपुरुष जगत की स्त्री के लिए शोभा

फैलाते हैं; परन्तु वे वास्तव में ऐसा स्त्री की शोभा के लिये नहीं करते; बल्कि अपने राग के लिये करते हैं। केवलज्ञानी अपनी पर्याय की शोभा अपने आनन्द के लिये फैलाते हैं। सर्वज्ञ भगवान को अपनी पूर्णशुद्धपर्याय से प्रेम है। वे उसका वियोग नहीं होने देते। निरन्तर उसे सेवते हैं। ऐसी द्रव्य और पर्याय की एकता हो गयी है।”

इसप्रकार इस छन्द में लौकिक पति-पत्नी के उदाहरण के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान और मुक्ति प्रिया के अलौकिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं ॥२७५॥

चौथा छन्द इसप्रकार है -

( अनुष्टुभ् )

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।

अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम् ॥२७६॥

( दोहा )

अरे भ्रमर की भांति तुम, शिवकामिनि लवलीन ।

अद्वितीय आत्मीक सुख, पाया जिन अमलीन ॥२७६॥

हे जिनेन्द्र ! आप मुक्तिरूपी कामिनी के मुखकमल पर भ्रमर की भांति लीन हो गये हो और आपने अद्वितीय आत्मिक सुख प्राप्त किया है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार भ्रमर कमल पुष्पों पर आकर्षित होकर लीन हो जाते हैं; उसीप्रकार हे जिनेन्द्र भगवान आप भी अपने आत्मा में लीन हैं और आत्मानन्द ले रहे हैं ॥

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“भगवान ने द्रव्यस्वभाव में अपनी पर्याय को लीन कर दिया है। वे केवलज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य आदि में विराज रहे हैं। उन्होंने ऐसा अभेद अद्वितीय सुख प्राप्त किया है, जो संसार में नहीं मिलता। यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन को पहिचानकर उनके गीत गाये हैं। जिसप्रकार भ्रमर कमल में लीन हो जाता है; उसीप्रकार भगवान अपने स्वभाव में लीन हो गये हैं, अनन्तसुख-आनन्द में डूब गये हैं।”

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान की आत्मलीनता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ॥२७६॥

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त चारों छन्दों में टीकाकार मुनिराज विविध प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते दृष्टिगोचर होते हैं।

अध्यात्म और भक्ति का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र असंभव नहीं तो दुर्लभ तो है ही।

## नियमसार गाथा १६१

विगत गाथा में यह कहा था कि केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि ज्ञान सर्वथा परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक तो उसका यह कथन सत्य नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

गाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चव ।

अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

( हरिगीत )

परप्रकाशक ज्ञान दर्शन स्वप्रकाशक इसतरह ।

स्वपरप्रकाशक आत्मा है मानते हो तुम यदि ॥१६१॥

ज्ञान परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक ही है तथा आत्मा स्व-परप्रकाशक है - ऐसा यदि तू वास्तव में मानता है तो उसमें विरोध आता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आत्मा के स्व-परप्रकाशन संबंधी विरोध का कथन है।

प्रथम तो आत्मा का स्व-परप्रकाशनपना किसप्रकार है ? - यदि कोई ऐसा कहे तो उस पर विचार किया जाता है।

‘आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से समृद्ध है। उसका ज्ञानगुण शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से केवल परप्रकाशक ही है। इसीप्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है अर्थात् स्वप्रकाशक ही है। इस विधि से आत्मा स्वपरप्रकाशक है।’ - इसप्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव से इसप्रकार मानता हो, तो वस्तुतः तुझ से अधिक जड़, मूर्ख अन्य कोई पुरुष नहीं है।

इसलिए अविरोद्ध स्याद्वादविद्यारूपी देवी की सत्पुरुषों द्वारा निरन्तर भली प्रकार आराधना करने योग्य है।

स्याद्वाद मत में ज्ञान को एकान्त परप्रकाशकपना नहीं है। इसीप्रकार स्याद्वाद मत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता।

आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों का आधार है।

व्यवहार पक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो; सदा बाह्य स्थितिपने के

कारण ज्ञान का आत्मा के साथ संबंध ही नहीं रहेगा; इसलिए आत्मज्ञान के अभाव के कारण सर्वगतपना भी नहीं बनेगा। इसकारण ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा।

इसीप्रकार दर्शनपक्ष से भी दर्शन केवल आभ्यन्तर प्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है, वह मात्र स्व को ही नहीं देखता; अपितु सबको देखता है; क्योंकि चक्षु सदा सबको देखती है, अपने भीतर स्थित कनीनिका<sup>१</sup> को नहीं देखती। इससे यह निश्चित होता है कि ज्ञान और दर्शन - दोनों को ही स्वपरप्रकाशकपना अविरोध ही है। इसप्रकार ज्ञानदर्शन लक्षणवाला आत्मा स्वपरप्रकाशक है।<sup>२</sup>

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आत्मा के स्वपरप्रकाशकपने के विरोध का कथन है। यदि भगवान आत्मा स्वपरप्रकाशक है, तो उसका एक गुण स्व को प्रकाशे और दूसरा गुण पर को प्रकाशे - ऐसा मानने में विरोध आता है।

गुणी से गुण भिन्न नहीं होते। आत्मा के गुण आत्मा की तरह स्वपरप्रकाशक हैं; अतः आत्मा को स्वपरप्रकाशक कहना और उसके गुणों में भेद करना तो विरोध है।<sup>३</sup> आत्मा में पर्याय की पूर्ण अभेदता होकर उसकी एक पर्याय बाहर का काम करे और दूसरी पर्याय अन्तर का काम करे - ऐसा मानने पर आत्मा की अखण्डता नहीं रहती; अतः ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही देखता है - यह बात गलत है।<sup>४</sup>

निश्चय से आत्मा स्वयं स्वपरप्रकाशक है; अतः उसके गुण भी स्वपरप्रकाशक हैं - इस न्याय से ज्ञान और दर्शन दोनों गुण स्वपरप्रकाशक सिद्ध होते हैं।<sup>५</sup>

जिसप्रकार आत्मा को समझे बिना यह जीव पूजा-भक्ति, दान, व्रत, तप इत्यादि करे तो उनसे आत्मा को लाभ नहीं होता; उसीप्रकार अभेद आत्मा को जाने बिना अकेला गुणभेद का व्यवहार कुछ भी कार्यकारी नहीं है।<sup>६</sup>

ज्ञान और दर्शन दोनों को स्वपरप्रकाशक मानने में कोई विरोध नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान-दर्शनरूपी स्वपरप्रकाशक गुणों का आधार होने से गुणी आत्मा भी स्वपर प्रकाशक ही है।<sup>७</sup>

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि दर्शन

- |                    |                               |                         |
|--------------------|-------------------------------|-------------------------|
| १. आँख की पुतली    | २. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३७३ | ३. वही, पृष्ठ १३७३-१३७४ |
| ४. वही, पृष्ठ १३७८ | ५. वही, पृष्ठ १३७८-१३७९       | ६. वही, पृष्ठ १३७९      |

स्वप्रकाशक है और ज्ञान परप्रकाशक है - इसप्रकार दोनों को मिलाकर आत्मा स्वपरप्रकाशक है - यह बात सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है, दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है’ - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

( स्रग्धरा )

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं  
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत

ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥७७॥<sup>१</sup>

( मनहरण कवित्त )

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब ।

अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा ॥

भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब ।

द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा ॥

मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं ।

सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा ॥

पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये ।

सदा मुक्त रहें अरहंत परमातमा ॥७७॥

जिसने कर्मों को छेद डाला है - ऐसा यह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ - सभी को एकसाथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी डाला है समस्त ज्ञेयाकारों को जिसने - ऐसा यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबंधन से मुक्त ही रहता है।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि लोकालोक को सहज भाव से जाननेवाला यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण सबको सहजभाव से जानते हुए भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता ॥७७॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘तथाहि’ लिखकर एक छन्द लिखते हैं; जो

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, छन्द ४



इसप्रकार है -

( मंदाक्रांता )

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा  
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वतं ज्ञेयजालम् ।  
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा  
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥२७७॥

( मनहरण कवित्त )

ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर ।  
लोकालोक ज्ञेय के समूह को है जानता ।  
ज्ञान के समान दर्शन भी तो क्षायिक है ।  
वह भी स्वपर को है साक्षात् जानता ॥  
ज्ञान-दर्शन द्वारा भगवान आतमा ।  
स्वपर सभी ज्ञेयराशि को है जानता ॥  
ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा ।  
स्वपरप्रकाशी निज भाव को प्रकाशता ॥२७७॥

ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक संबंधी समस्त ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है, जानता है । नित्य शुद्ध क्षायिकदर्शन भी साक्षात् स्वपरविषयक है; वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है । यह भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन के द्वारा स्व-पर संबंधी ज्ञेयराशि को जानता है ।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण में गाथा में, टीका में और टीका में उद्धृत किये गये छन्द में तथा टीकाकार द्वारा लिखे गये छन्द में - सभी में इसी बात को तर्क और युक्ति से, पुष्ट प्रमाणों से यही सिद्ध किया गया है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, दर्शन स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपर-प्रकाशक है ।

### नियमसार गाथा १६२

इस गाथा में विगत गाथा में प्रतिपादित बात को ही आगे बढ़ा रहे हैं । गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।  
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥  
( हरिगीत )

पर का प्रकाशक ज्ञान तो दृग भिन्न होगा ज्ञान से ।  
पर को न देखे दर्श - ऐसा कहा तुमने पूर्व में ॥१६२॥

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परप्रकाशक नहीं है, तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्व सूत्र में किया गया है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह पूर्वसूत्र अर्थात् १६१वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के सिद्धान्त संबंधी कथन है ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशन प्रधान ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; क्योंकि सहाचल और विन्ध्याचल के समान अथवा गंगा और श्रीपर्वत के समान परप्रकाशक ज्ञान और स्वप्रकाशक दर्शन का संबंध किसप्रकार होगा ?

यदि कोई ऐसा कहे तो कहते हैं कि जो आत्मनिष्ठ (स्वप्रकाशक) है, वह तो दर्शन ही है । उस दर्शन और ज्ञान को निराधार होने से अर्थात् आत्मरूपी आधार न होने से शून्यता की आपत्ति आ जावेगी अथवा जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा; अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान प्राप्त करेगा, ज्ञान जानेगा; वे-वे सभी द्रव्य चेतनता को प्राप्त होंगे । इसकारण तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा - यह महान दोष आयेगा ।

उक्त दोष के भय से हे शिष्य ! यदि तू ऐसा कहे कि ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं हैं तो दर्शन भी केवल आत्मगत नहीं है, स्वप्रकाशक नहीं है - ऐसा भी कहा गया है । इसलिए वास्तविक समाधानरूप सिद्धान्त का हार्द यह है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्वपरप्रकाशक पना ही है ।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार पर्वत बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार गुणों को भिन्न-भिन्न मानने पर वस्तु में विरोध आता है । दर्शनरूपी पर्वत रह जाये और ज्ञानरूपी गंगा बह जाये - इसप्रकार ज्ञान, दर्शन दोनों का मेल सिद्ध नहीं होता ।

जो आत्मा में रहने वाला है, वह तो दर्शन ही है और ज्ञान के निराधारपने होने से शून्यता की आपत्ति आती है; क्योंकि दर्शन को आत्मा का आधार मिल गया; परन्तु ज्ञान को आधार नहीं मिला; इसलिये आत्मा से रहित ज्ञान असत्तारूप है - इसप्रकार विरोध आता है । अथवा आत्मा से ज्ञान निकलकर जिस-जिस द्रव्य को

जानने जायेगा, वह द्रव्य भी चेतन हो जायेगा - इसप्रकार तीन लोक में किसी भी अचेतन पदार्थ के नहीं रहने रूप महादोष प्राप्त होगा।

ऊपर कहे गये दोष के भय से हे शिष्य! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है, यदि तुम ऐसा कहते हो तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्व-प्रकाशक) नहीं है - इसके साथ ऐसा भी सिद्ध हो गया; क्योंकि दर्शन स्वप्रकाशक ही हो तो पर को नहीं देखने से वह अंधा हो जायेगा और ज्ञान अकेला पर को जाने तो सभी पदार्थ चेतन हो जावेंगे और आत्मा ज्ञान बिना अचेतन हो जायेगा; अतः वास्तव में सिद्धान्त के साररूप इसका यह समाधान है कि ज्ञान और दर्शन के कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना ही है।

शुद्धपयोग अधिकार की पहली गाथा में कहा था कि ज्ञान और दर्शन के कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना है - वही बात यहाँ सिद्ध की गयी है।<sup>१</sup>

इस गाथा और उसकी टीका में ज्ञान, दर्शन और आत्मा - तीनों को अनेक तर्क और युक्तियों से स्वपरप्रकाशक ही सिद्ध किया गया है ॥१६२॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथा श्री महासेन पण्डितदेव के द्वारा भी कहा गया है' - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥७८॥<sup>२</sup>

( कुण्डलिया )

अरे ज्ञान से आत्मा, नहीं सर्वथा भिन्न ।

अर अभिन्न भी है नहीं, यह है भिन्नाभिन्न ॥

यह है भिन्नाभिन्न कथंचित् नहीं सर्वथा ।

अरे कथंचित् भिन्न अभिन्न भी किसी अपेक्षा ॥

जैनधर्म में नहीं सर्वथा कुछ भी होता ।

पूर्वापर जो ज्ञान आत्मा वह ही होता ॥७८॥

आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; कथंचित् भिन्नाभिन्न है; क्योंकि पूर्वापर ज्ञान ही आत्मा है - ऐसा कहा है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८२-१३८३

२. महासेन पण्डितदेव, ग्रंथ नाम और श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

“आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है, कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। यदि सर्वथा भिन्न माना जाये तो आत्मा के अचेतनपना प्राप्त होगा और ज्ञान को आत्मा से सर्वथा अभिन्न माना जाये तो संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की भिन्नता नहीं रहती; अतः कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। किसी अपेक्षा से अभिन्न है और किसी अपेक्षा से भिन्न।

पूर्व-उत्तर भावी जो ज्ञान है, वह आत्मा है - ऐसा कहा है। जो पहले का ज्ञान और पीछे का ज्ञान होता है, वही आत्मा है अर्थात् ज्ञान में पहले-बाद का भेद पड़ता है; परन्तु आत्मा तो पूर्वोत्तरदशा में एक ही है, उसमें भेद नहीं पड़ता है; ज्ञान ही आत्मा है - इसप्रकार आत्मा भेद-अभेद रूप है।<sup>१</sup>”

उक्त छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान-दर्शन और आत्मा में कथंचित् भिन्नता है और कथंचित् अभिन्नता है। इसप्रकार वे प्रमाण से भिन्नाभिन्न हैं ॥७८॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथाहि' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

( मंदाक्रांता )

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्  
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।

संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्ट्योः

भेदो जातो न खलु परमार्थेन बह्नायुष्णवत्सः ॥२७८॥

( हरिगीत )

यह आत्मा न ज्ञान है दर्शन नहीं है आत्मा ।

रे स्वपर जाननहार दर्शनज्ञानमय है आत्मा ॥

इस अघविनाशक आत्मा अर ज्ञान-दर्शन में सदा ।

भेद है नामादि से परमार्थ से अन्तर नहीं ॥२७८॥

आत्मा ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार आत्मा दर्शन भी नहीं है। ज्ञान-दर्शन युक्त आत्मा स्व-परविषय को अवश्य जानता है और देखता है। अघ अर्थात् पुण्य-पाप समूह के नाशक आत्मा में और ज्ञान-दर्शन में संज्ञा (नाम) भेद से भेद उत्पन्न होता है; परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति आत्मा और ज्ञान-दर्शन में वास्तविक भेद नहीं है।

इस छन्द में यही कहा गया है कि यद्यपि दर्शन, ज्ञान और आत्मा में नामादि की अपेक्षा व्यवहार से भेद है; तथापि निश्चय से विचार करें तो उनमें अग्नि और उष्णता की भाँति कोई भेद नहीं है ॥२७८॥

(क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८३